

अवधी लोकगीतों में अभिव्यक्त नारी का स्वरूप

डॉ. अनीता शुक्ल

असिस्टेंट प्रोफेसर

हिंदी विभाग, कला संकाय

महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय,

बड़ौदा, गुजरात

Email: dr.anitashukla01@gmail.com

सारांश

प्रस्तुत प्रपत्र 'लोक' तथा 'लोकगीत' को पारिभाषित करते हुए अवधी लोकगीतों में अभिव्यक्त नारी के विविध स्वरूपों का सूक्ष्म विश्लेषण करता है। उत्तर-आधुनिक नारी-विमर्श से अलग यहाँ नारी के जीवन के विविध पक्षों को 'लोक' की दृष्टि से देखने का प्रयास किया गया है। प्रपत्र में प्रयोग किये गए गीत मूलतः प्राथमिक श्रोत के रूप में संकलित किये गए हैं। प्रस्तुत प्रपत्र में सर्वे विधि द्वारा तथ्य संकलित किये गए हैं।

महत्त्वपूर्ण शब्द: लोक, लोकगीत, अवध-क्षेत्र, नारी के विविध स्वरूप, नारी की स्थिति।

जब से 'लोक' है, तभी से 'लोक' के सुख-दुःख, राग-विराग, हर्ष-विषाद की अभिव्यक्ति उसके गीतों तथा कथाओं में होती आ रही है। जब पाणिनि ने संस्कृत को व्याकरणबद्ध किया और संस्कृत पंडितों की भाषा बन गई, संभवतः तभी से 'लोक' ने अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति अपनी बोली-बानी में करना आरंभ किया होगा। तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि ज्ञान की जो धारा वेदों, पुराणों, शास्त्रों में बह रही थी, लोक साहित्य में भी उसकी अभिव्यक्ति बिल्कुल उसी रूप में हुई है। लोक ने वेद-विहित ज्ञान को अपनी बोली में रचकर अपनी भावी पीढ़ी को उसकी विरासत सौंपी। यह लोकगीतों की विशेषता है कि इनमें जो ज्ञान है वह शुष्क और नीरस ज्ञान नहीं है, बल्कि वह तो रस में सना, प्रेम में पगा, वेदना में तपकर निखरा, वियोग की अग्निपरीक्षा देकर अपने अस्तित्व की रक्षा करते हुए निरंतर प्रवाहित हो रहा है।

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में लोकगीत की परिभाषा कुछ इस प्रकार दी गई है- "लोकगीत वे हैं जिनके रचयिता अज्ञात हों, जो प्रकृति में मौलिक, कलात्मकता रहित, परम्परा में प्रवाहित हों उन्हें लोकगीत कहा जाता है।¹

¹ https://shodhganga.inflibnet.ac.in/bitstream/10603/106151/7/07_chapter%202.pdf

पं. रामनरेश त्रिपाठी ने लोकगीतों को 'ग्रामगीत' के नाम से सम्बोधित करते हुए कहा है- "ग्रामगीत प्रकृति के उद्गार हैं. इनमें अलंकार नहीं, केवल रस है. छंद नहीं केवल लय!! लालित्य नहीं केवल माधुर्य!!! ग्रामीण मनुष्यों के, स्त्री-पुरुषों के मध्य में हृदय नामक आसन पर बैठकर प्रकृति गान करती है. प्रकृति के वे ही गान ग्रामगीत हैं."²

देवेन्द्र सत्यार्थी कहते हैं- "लोकगीत किसी संस्कृति के मुँह बोलते चित्र हैं."³

भारतीय समाज ने कभी स्त्री-पुरुष में भेद न माना. दोनों जीवन रूपी गाड़ी के दो पहिए हैं. दोनों पहियों में संतुलन बना रहेगा तभी गाड़ी चल पाएगी अन्यथा बीच में ही डगमगाकर गिर जाएगी. समाज के समुचित विकास के लिए समाज को वर्णों में बाँटा गया और जीवन के सफलतापूर्वक निर्वाह के लिए उसे आश्रमों में. यह विभाजन अत्यंत सुचित था. हमारे आराध्य अर्धनारीश्वर रहे और अभिवादन 'जय सियाराम' या 'राधे-राधे'. माता प्रथम गुरु रही और परिवार की धुरी; 'मातृ देवो भव' कहकर उसे पिता और गुरु से भी पहले पूज्य कहा गया. समय के साथ उसकी भूमिकाएँ बदलीं और स्वरूप भी. प्रस्तुत आलेख अवधी लोकसाहित्य के आलोक में विभिन्न समयों, स्थितियों और भूमिकाओं में स्त्री के स्वरूप का विश्लेषण करने का प्रयास करता है. यहाँ यह स्पष्टता भी आवश्यक समझते हुए की जाती है कि यह विश्लेषण उत्तर-आधुनिक विमर्शों की श्रृंखला में से एक विमर्श- 'नारी-विमर्श' के खाँचे में किया गया विश्लेषण नहीं है, किया भी नहीं जा सकता. 'नारी-विमर्श' एक सीमित राजनीतिक विचारधारा है. वह भारतीय संस्कृति के पहलुओं और मूल्यों की व्यापकता तक नहीं जा सकती. लोकसाहित्य 'नारी-विमर्श' के जन्म से पहले से है. लोकगीतों के जन्म की पृष्ठभूमि कुछ और है और 'नारी-विमर्श' के जन्म की कुछ और. दोनों की सामाजिक पृष्ठभूमि भी भिन्न है; इसलिए 'नारी-विमर्श' के तराजू से लोकसाहित्य को तोलना संकीर्ण प्रयास होगा.

अवधी लोकगीतों में नारी मुख्य रूप से निम्नलिखित भूमिकाओं में हमारे सामने आती है:

- बेटे के रूप में
- बहन के रूप में
- प्रेमिका के रूप में
- माँ के रूप में
- पत्नी के रूप में
- बहू के रूप में
- सास के रूप में
- ननद के रूप में

यहाँ लोकगीतों के माध्यम से उसकी इन्हीं भूमिकाओं को देखने का प्रयास किया जाएगा.

² Ibid

³ Ibid

हमारे अवध में बेटे के विवाह से संबंधित दो लोकरीतियाँ हैं। एक, बेटे की बारात जब सजकर तैयार हो जाती है, तब स्त्रियाँ लोकगीत गाते हुए बाजे-गाजे के साथ बारात विदा करने जाती हैं। इसी बीच कुएँ की पूजा की जाती है और वहीं पर दूल्हे की माँ कुएँ में पैर लटकाकर कुएँ की जगत पर बैठ जाती हैं और कहती हैं कि अब मैं कुएँ में कूद जाऊँगी। दूल्हा उन्हें मनाता है कि- 'हे माँ, मैं तुम्हारी सेवा करूँगा।' और माँ मान जाती हैं और कुएँ में नहीं कूदतीं। दूसरी, बारात जाने से पहले दूल्हे की माँ दूल्हे को प्रतीकात्मक रूप से दूध पिलाती हैं और उस समय स्त्रियाँ गीत गाती हैं- 'तू तौ चलेउ पूता गौरी बियाहन, मोरे दुधवा कै मोल किहे जाव।' इन पंक्तियों को गाते सुनकर पाषाण-हृदय व्यक्ति भी द्रवित हो जाय इतनी कातरता होती है इन स्वरों में! इन दोनों ही लोकरीतियों में एक केंद्रीय भाव है- माँ का डर। किसका डर? बेटे के विवाह के उछाह के बीच यह डर कैसा? क्या माँ के मन को यह डर घेर लेता है कि जिस पुत्र-प्राप्ति की चाह में इतनी मन्तें और मिन्तें हुईं, कहीं विवाह के बाद वह पुत्र हाथ से तो नहीं निकल जाएगा? कहीं वह पत्नी का होकर तो नहीं रह जाएगा? तो क्या लोकगीतों की सास द्वारा बहू की प्रताड़ना के पीछे यह डर है? क्या पुत्र पर से अधिकार छिन जाने का भय है? तो क्या लोकगीतों में होने वाला सास-बहू का संघर्ष सत्ता का संघर्ष है? अधिकार का संघर्ष है? या बुढ़ापे की लाठी छिन जाने का भय?

पुत्र-प्राप्ति की चाह क्यों इतनी बलवती होती है, पहले इसे समझना होगा और इसके लिए भारतीय परिवार की संकल्पना को समझना होगा।

भारतीय समाज में संयुक्त परिवार की संकल्पना की गई। एक ऐसा परिवार जिसमें बाल, वृद्ध, युवा सबके कर्तव्य, सबके अधिकार अलिखित परिभाषा में निबद्ध हैं। युवा पुत्र और पुत्रवधू गृहस्थी की जिम्मेदारियाँ सँभालेंगे। उन्हें माता-पिता का मार्गदर्शन यथासमय मिलता रहेगा। बच्चों का माता-पिता और दादा-दादी के संरक्षण में सुरक्षित, नियमित और समुचित विकास होगा। अपने माता-पिता को देखकर वे भी गृहस्थ जीवन के गुरु सीखेंगे और आगे चलकर अपनी जिम्मेदारियों का निर्वाह करते हुए माता-पिता की सेवा करेंगे। इस प्रकार परिवार में पुत्र और पुत्री दोनों का पालन-पोषण और प्रशिक्षण साथ-साथ होता है। पुत्री विवाह करके ससुराल चली जाएगी। पुत्र माता-पिता के साथ रहकर उनकी सेवा करेगा। पुत्री को भी परवरिश के साथ-साथ माँ व्यावहारिक शिक्षा देती चलती है-

*सिखिलेव बेटी रे गुन अवगुनवा, सिखि लेव राम रसोय.
सासु ननद तोरा बाबा गरियइहैं, लै लिहिव अंचरा पसारि॥*

पुत्र वंश को बढ़ाता है, बुढ़ापे में माता-पिता का सहारा बनता है; इसलिए पुत्र के जन्म की अनन्य आकांक्षा होती है। इस सब के बाद यदि अन्य कुल से आने वाली पुत्रवधू के मोह-जाल, प्रेम-पाश में बँधकर पुत्र माता-पिता से विलग हो गया तो... यह विलगाव का 'डर' संभवतः माँ की कातरता बढ़ाता होगा। तो क्या सचमुच लोकगीतों की सास-बहू के संघर्ष के पीछे यह विलगाव का 'डर' है?

आइए, अवधी लोकगीतों के परिप्रेक्ष्य में नारी के विभिन्न स्वरूपों और उसकी स्थितियों को समझने का प्रयास करते हैं।

■ **अवधी लोकगीतों की बेटी:**

अवधी लोकगीतों में बेटी का जन्म भादों की काली अँधेरी रात के समान रहा है-

जेहि दिन ए बेटी तोहरा जनम भए, होइ गय भदौना कै राति.

सासू ननद उठि दिअना न बारैं, आपु प्रभु सोवैं खलिहान॥

पुत्री का जन्म भादों की काली अँधेरी भयावह रात के समान है. पुत्र-प्राप्ति के सपने मन में संजोए पूरा परिवार पुत्री के जन्म से दुखी हो जाता है और उस पुत्रवधू को अकेला छोड़ देता है जिसने पुत्री को जन्म दिया है. सास-ननद जो घर में हैं, उठकर दिया नहीं जलातीं; और पति खलिहान में सोया है. पुत्री के जन्म से छाए निराशा और दुख के बादल संभवतः छँट जाते, यदि सास-ननद की सहानुभूति एवं संवेदना का प्रकाश मिलता.

पिता पुत्री के जन्म से ही चिंतित है कि पुत्री के योग्य वर कैसे मिलेगा? कहाँ मिलेगा? कितना दहेज जुटाना पड़ेगा?

नीर चुवै बाबा नीर चुवत हैं, नीर चुवै सारी रात.

ऐसे बाबा के कैसे नींद लगतु हैं, जेहि घर कन्या कुँवारि.

इस पर भी यदि बेटी जन्मते ही योग्य वर की माँग करे तो गरीब पिता की चिंता और बढ़ जाती है-

सुपवन से वर मांगिव मोरी बेटी, अब पति राखैं भगवान.

जैसे चन्द्र और सूरज को ग्रहण लगता है, वैसे ही बेटी के पिता को ग्रहण लगता है. गंगा में बैठकर बेटी का पिता सूर्य से विनती करता है कि हे विधाता! बेटी तभी देना जब घर में संपत्ति हो-

“कवन गरहनवा बाबा सांझे जे लागै कवन गरहन भिनुसार.

कवन गरहनवा बाबा मड़ए मा लागै कब धौं उगरह होइ॥

चंद्र गरहनवा बेटी सांझे जे लागै सुरुज गरहनवा भिनुसार.

धेरिया गरहनवा बेटी मड़ए मा लागै कब धौं उगरह होइ॥

गंगा पैठि बाबा सुरुज से बिनवइं मोरे बूते धेरिया न होइ.

धेरिया जनम तब दिहा विधाता जब घर सम्पति होइ॥”⁴

पुत्री के विवाह के लिए पिता की चिंता और योग्य वर के साथ उसका विवाह हो जाने से पिता सुख की नींद सो सकता है, इसका चित्रण एक ‘परछन’ गीत की इस पंक्ति में बहुत सुंदर हुआ है-

धेरिया जे परि गइं सजन घर अब बाबा सोवहु सुख नींद.

बेटी का जन्म दुखदाई है क्योंकि उसके विवाह में ढेर सारा दहेज देना पड़ेगा, न जाने उसके योग्य वर मिलेगा भी या नहीं. यह आवश्यक नहीं कि ढेर सारा दहेज देकर भी योग्य वर मिल ही जाए. योग्यता की कसौटी प्रत्येक युग में भिन्न-भिन्न रही है. बल-परीक्षा, धन-परीक्षा, गुण-परीक्षा इसके मापदण्ड रहे हैं. लोकगीतों में भी इसके प्रमाण मिलते हैं-

अरे अरे भइया कवन रामा, देहिया मा बल करा, धनुसा करेर करा हो,

तोहरे आवा थे सग बहनोइया त जोते खेते लड़ि लिया हो.

पुत्री की गृहस्थी बस जाने से पिता प्रसन्न हैं. किसी काज-परोजन पर बड़े मान-सम्मान के साथ वह मायके बुलाई जाती है. अपेक्षित सम्मान न मिलने पर बेटी मायके नहीं आती. एक चित्र देखिए, बाबा ने पोते के यज्ञोपवीत का यज्ञ ठाना है. पोता अपनी बुआ को लेने जाता है, क्योंकि बुआ के बिना बहुत सारे संस्कार सम्पन्न नहीं होंगे. गर्मी की ऋतु है, जेठ की तपती लू और जलती भू सहने को बुआ तैयार नहीं हैं. वे आने से मना कर देती हैं. बरुआ अपने बाबा से जाकर कहता है कि- बुआ ने आने से मना कर दिया. तब बाबा कहते हैं- मेरी बेटी ऐसे नहीं आएगी, वह तो-

चारि कहारा बेटा लाल ओहारा हो, पलकी के दल अइहें बेटी हमारा हो.

■ अवधी लोकगीतों की बहन:

अवधी लोकगीतों में बहन-भाई का संबंध अत्यंत मधुर एवं आत्मीय रहा है. सावन में गुड्डे-गुड़िया सिराने में भाई सहयोगी बनता है और बहन अपने भाई की लम्बी आयु के लिए भीगकर फूले चने बिना पानी के निगल जाती है. उसकी लम्बी आयु के लिए कई व्रत उपवास करती है. उसे अपने सुख-दुख का साझेदार मानती है. किसी कारण से यदि वे एक-दूसरे से रूठ जाते हैं तो वह दोनों के लिए असह्य हो जाता है-

*आइ गए अरगन परगन औ ननिआउर हो.
बहिनी एक नाहीं आए बीरन भैया, जेनसे मैं रूठेंव.*

भाई-बहन का संबंध इतना निकट का और अटूट विश्वास के पाये पर टिका होता है कि बहन ससुराल में जो कष्ट सहती है, उन व्यथा के क्षणों का साझेदार वह सिर्फ भाई को बनाती है, जिसकी चर्चा आगे की गई है.

■ अवधी लोकगीतों की प्रेमिका:

पारम्परिक भारतीय समाज में विवाहेतर प्रेम-संबंध को कभी स्वीकार नहीं किया गया. कृष्ण-राधा की ओट में कुछ श्रृंगार-रस प्रधान गीत अवश्य हैं जो प्रेमी-प्रेमिका के संबंध को व्यक्त करते हैं; जैसे-

झलुआ बंद करा बनवारी, हम घर मारी जाबय ना.

किंतु अधिकांश श्रृंगार-रस प्रधान लोकगीत प्रायः पति-पत्नी के संबंधों से संबंधित मिलते हैं, जिनमें श्रृंगार के दोनों पक्षों- संयोग एवं वियोग का चित्रण मिलता है; जैसे-

संवलिया रे काहे मारै नजरिया.

अथवा

सइयाँ बिलमि रहे परदेसवा, सपनेहु दीखि सुरतिया ना.

■ अवधी लोकगीतों की माँ:

माँ सर्वत्र पूज्य रही है, वेदों में भी और लोक में भी. मातृत्व स्त्रीत्व की चरम परिणति है. माँ परिवार की धुरी होती है. जब आदर्श परिवार की कल्पना की जाती है तब माता-पिता को देवी-देवता के स्वरूप में देखा जाता है.

इसके प्रमाण भी अवधी लोकगीतों में खूब मिलते हैं। स्त्री जब माँ बन जाती है, तब वह सभी प्रकार के विमर्शों से ऊपर उठ जाती है; और तभी इस प्रकार के गीत बनते हैं- ‘माता के गौरा पिताजी के संकर... घरही में मंदिर बनइबे.’ अथवा ‘किहिव न सासूजी की सेवा बलक कैसे पड़बू.’

■ **अवधी लोकगीतों की पत्नी:**

अवधी लोकगीतों में पत्नी सदैव ही पति के सुख-दुख की संगिनी रही है। वह अपने पति पर गर्व करती है। उसे अपने पति के अलावा सभी मर्द हर प्रकार से तुच्छ जान पड़ते हैं-

“चले जाउ का चितवत हमरी ओर.
तू तौ अहा यार काला कलूटा,
मोर सैयाँ सुरुजवा की जोत॥
तू तौ लिहे यार लाठी औ डंडा,
मोर सैयाँ सोवरन की सोंट॥”

प्राचीन समय में कलकत्ता प्रमुख व्यापारिक केंद्र रहा है। परिवार की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पति भले ही ‘पुरबी बनिजिया’ गया हो, किंतु पत्नी ने सदा ही समाज के लंपट किस्म के पुरुषों से अपने शील की रक्षा की है और किसी परपुरुष की ओर ताका तक नहीं। ऐसे भी उदाहरण हैं जब पति ने किसी अन्य स्त्री से प्रेम करके अपनी पत्नी की उपेक्षा की हो और अपनी पत्नी से यह अपेक्षा की हो कि वह अपने शील और चरित्र की पवित्रता बनाए रखे। अवधी लोकगीतों की पत्नी ने ऐसे विषाद के क्षणों में भी अपनी चारित्रिक ऊँचाइयों का पतन नहीं होने दिया है-

“घोड़वा तौ बांधे वहि घोड़सरिया हथिनि लौंग की डारि.
अपना तौ सूतैं मलिनिया के कोरवा मालिनि बेनिया डोलाइ॥

उंचवै उंचवै जाइव रे रनिया खलवै पैग जनि दीन्हेव.
पराये पुरुष जिन चितयउ री रनिया आखिर होब तोहार॥”

हालाकि, पत्नी अधिकांशतः उपेक्षा की ही शिकार रही है, कभी बाँझपन के कारण, कभी काली-कलूटी होने के कारण। भारतीय समाज में स्त्री के सौंदर्य का मापदण्ड सदैव गोरा रंग रहा है और पुरुष, पुरुष होने मात्र से ही सर्वगुणसम्पन्न!?

“टटिया के ओलते दुलहिनि रानी राजा से अरज करें हो.
राजा हमरे तिलरिया कै साध तिलरिया हम लेबै हो.
बोलिया तुहूँ धना बोलिव बोलहिव न जानिव हो.
धनिया तू तौ कारी कोइलिया तिलरिया नाही सोहै हो.”

■ अवधी लोकगीतों की बहू:

मन में गुलाबी सपने सँजोए बेटी ससुराल पहुँचती है और यहीं से उसके संघर्षों का सिलसिला आरंभ हो जाता है. कभी बाँझ होने के ताने तो कभी 'कारी कोइलिया' की उपमा. एक सोहर गीत की निम्नलिखित दो पंक्तियाँ ससुराल में उसकी स्थिति का चित्रण करती हैं-

सासू मोरी कहैलीं बझिनिया ननद ब्रजबासिनि हो.

रामा जेकरी मैं बारी बियाही वे घर से निकारैं हो.

सास-ननद बाँझ होने के ताने देती हैं, किंतु वह, जिसने अग्नि को साक्षी मानकर जन्म-जन्मांतर तक साथ चलने का वचन दिया था, घर से ही निकाल देता है. बहू गृहस्थी की चक्की में ऐसे पिसती है मानो उसके जीवन का कोई अर्थ ही न हो. वह सबकी सुश्रूषा करती है और सास-ननद और पति के अत्याचारों को मौन रहकर सहती है. एक समय ऐसा आता है जब चक्की और गेहूँ उसके मौन सहचर बन जाते हैं. कैसा हृदय-विदारक चित्र है! भाई अपनी बहन की ससुराल में उससे मिलने आया है. बहन उससे नहीं मिल सकती क्योंकि सास का आदेश है कि जब तक सारा गेहूँ पीस न लो, जाना मत. वह गेहूँ से ही निवेदन करती है-

हाली चुका हाली चुका चलनी के गोहुँआ हो ना.

मोरा भइया जे बैठे दुवरवा हो ना.

लेकिन गेहूँ तो अपने समय पर ही खत्म होगा. चक्की का यह गीत उसके जीवन की चक्की का जीवंत चित्रण है. भाई जब भोजन करने बैठता है तब वह अपना हाल बताती है-

नौ मन कुटना से नौ मन पिसना हो ना.

भइया नौ मन सिझलेंव रसोइया हो ना.

पछली टिकरिया भइया हमरा भोजनवा हो ना.

भइया वहू महें कुकुरा बिलरिया हो ना.

भइया वहू महें हर हरवहवा हो ना.

भइया वहू महें ननदी कलेउना हो ना.

लेकिन, कुछ ऐसे गीत भी मिलते हैं, जिनमें सास-बहू का संबंध मित्रवत् दिखाई देता है. जहाँ बहू अपने मन की बात सास से ही सबसे पहले कहती है-

“सोवति रहेंव अटरिया सपन एक देखेंव हो.

सासू सपने कै करहु विचार सपन बड़ सुंदर हो.”

लोकगीत समाज का आइना हैं. इनमें समाज वैसा ही प्रतिबिम्बित हुआ है, जैसा वह है. जीवन के खट्टे, मीठे, कड़वे अनुभव यहाँ आडम्बररहित प्रतिबिम्बित हुए हैं.

■ अवधी लोकगीतों की सास:

लोकगीतों में अनेक विरोधाभास दिखाई देते हैं. सास का चरित्र तो विरोधाभासों का जीता-जागता चित्र है. सास का चरित्र बहू के बरक्स और बहू का चरित्र सास के बरक्स रखकर ही समझा जा सकता है. यदि बहू वंध्या है तो सास ताने देती है, यदि बहू पुत्री को जन्म देती है तो सास दिया तक जलाने नहीं जाती, यदि बहू सुंदर स्वप्न देखती

है तो सास उसकी मित्र बनकर स्वप्न की व्याख्या करती है और यदि बहू पुत्र को जन्म देती है तो सास मारे खुशी के सर्वस्व लुटा देती है- 'सास लुटावेलीं रुपैया त ननदि मोहरिया रे.'

■ **अवधी लोकगीतों की ननद:**

अवधी लोकगीतों में ननद भाभी का संबंध कभी मधुर नहीं रहा है. ननद के रूप में स्त्री कभी प्रिय नहीं रही है. बेटी को विदा करते समय माँ के रोने से गंगा में बाढ़ आ जाती है, पिता के रोने से अंधकार हो जाता है, भैया के रोने से उनकी धोती भीग जाती है किंतु भाभी के नयन गीले भी नहीं होते-

“मैया के रोए से गंगा बढ़ति हैं,
बाबा के रोए अनोर.
भैया के रोए चरन धोती भीजै,
भौजी नयनवा न लोर॥”

लोकगीतों में स्त्री के प्रायः सभी रूपों का चित्रण मिलता है. समय के साथ इन स्वरूपों में परिवर्तन भी दिखाई देता है. वह बहू जो मौन रहकर ससुराल की सारी यातनाएँ सह लेती है. सास के आदेश के बिना अपने भाई से नहीं मिलती. पति को अन्य स्त्री के साथ देखकर उलटे पाँव लौट आती है और इसी तरह जीने को अपनी नियति मान लेती है. समय के साथ उसमें जागरूकता आती है. आधुनिक समाज में हो रहे विकास से वह प्रभावित होती है. अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होती है. पराई स्त्री के प्रेम-पाश में बँधे पति को देखकर भी जो यह सुनकर लौट आती है कि- 'आखिर होब तोहार', वही अब आँखों में आँखें डालकर घोषणा करती है-

“सारी उमिरिया बिगाड़ेव रसिया, हम तुँहसे लड़बै अदालतिया.